भारतीय ज्ञान परम्परा में निरन्तर विकास की प्रक्रिया के लिए 'लोकसंग्रह' का समावेशी सिद्धान्त

- बलदेवानन्द सागर

उपक्रम

इस शोधपत्र का शुभारम्भ 'मनुस्मृतिः' के अध्याय-२, श्लोक-२० से करना चाहूँगा | श्लोक इस प्रकार से है -

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ।। २/२०

इस श्लोक के पूर्वापर अनुक्रम को देखें तो मनु-महाराज ने आर्यावर्त के भौगोलिक, आध्यात्मिक और सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप को भी रेखांकित किया है | यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय है | इसके मनन से भारतीय ज्ञान परम्परा की निरन्तर विकास-प्रक्रिया की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का बोध होता है जिसको अधिक सरलता से समझने के लिए भारतीय चिन्तन-परम्परा के 'लोकसंग्रह' के सिद्धान्त को हृदयंगम करना आवश्यक होगा |

'एतद्देशप्रसूतस्य' का प्रेरक सनातन सन्देश

इस देश के प्रसूतों को समझने के लिए भारत की आर्ष-परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन को नकारा नहीं जा सकता | इसी प्रकार से 'अग्रजन्मा' को भी व्यापक-चिन्तन की परिभाषा में समझना होगा | 'लोकसंग्रह' के कारण ही हमारी सनातन-परम्पराओं का तथा दर्शन, साहित्य, विज्ञान और ललित-कलाओं का निरन्तर विकास दृश्यमान है और ये ज्ञान-परम्पराएं प्रत्येक विश्व-मानव को अनुप्रेरित करती हैं, निरन्तर-विकास की धारा को गति प्रदान करती हैं |

'लोकसंग्रह' के समावेशी सिद्धान्त की विशद व्याख्या

'लोकसंग्रह' के समावेशी सिद्धान्त को व्याख्यायित करने के लिए मेरे परिनिष्ठित शोध-प्रयासों

के समय मुझे अनेक सन्दर्भ और उद्धरण मिले हैं | उनमें से वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण-ग्रन्थ, महाभारत और महाकाव्यों से जो कुछ मिला उसको आपके सामने रख रहा हूँ |

'लोकसंग्रह' का व्यापक अर्थ -

लोक संग्रह का अर्थ है - लोगों का संग्रह, अर्थात् लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करना। किसी जनमत को अपने में मिलाकर उसे अपना बना देने का नाम लोकसंग्रह है। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में भी इस शब्द का उल्लेख आया है -

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ ...श्रीमद्भगवद्गीता- ३/२०

[अर्थात् राजा जनक जैसे अन्य मनुष्यों ने भी केवल कर्तव्य-कर्म करके ही परम-सिद्धि को प्राप्त किया है, अत: संसार के हित[लोकसंग्रह] का विचार करते हुए भी तेरे लिये कर्म करना ही उचित है।]

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ... श्रीमद्भगवद्गीता- ३/२१

[अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, सामान्य मनुष्य भी उसी का ही अनुसरण करते हैं, वह श्रेष्ठ-पुरुष जो कुछ आदर्श प्रस्तुत कर देता है, समस्त संसार भी उसी का अनुसरण करने लगता है।]

महाभारत के उद्योगपर्व [अध्याय-५१, श्लोक-५४] में धृतराष्ट्र कहते हैं -

ऋषयो ह्यपि निर्मुक्ताः पश्यन्तो लोकसंग्रहान् |

सुखैर्भवन्ति सुखिनस्तथा दुःखेन दुःखिताः || ...म.भा.,उद्योगपर्व - ५१/५४

[अर्थात् प्रजाको धर्म में चलाने के लिए धर्माचरण करने वाले जीवन्मुक्त ऋषि भी सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होते हैं ।

महाभारत के शान्तिपर्व में भी पितामह भीष्म ने इस विषय में कहा है-

लोकसंग्रह-संयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा ।

सूक्ष्मधर्मार्थं नियतं सत्यं चरितमुत्तमम् ।। ...म.भा.,शान्तिपर्व – २५८/२५

[अर्थात् विधाता ने लोकसंग्रह की दृष्टि से युक्त होकर ही सूक्ष्म धर्म के प्रसंगों पर अर्थ को निश्चित करने वाला सत्पुरुषों का उत्तम चरित्र नियत किया है। जिससे सामान्यजन सत्पुरुषों के जीवन चरित्र को देखकर तदनुसार वर्तन करें तथा सत्पुरुषों के जीवन चरित्र से धर्म के सूक्ष्म प्रसंगों का निर्णय किया जा सके।]

लोकसंग्रह की एक ऐसी मर्यादा ऋषियों ने बनाई जिसका आचरण करने बाले ही सत्पुरुष कहे जाते हैं। ऐसे सत्पुरुषों को ही योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जनक आदि के नाम से संबोधित किया और उन्हीं के अनुसार उनके चरित्रों को देखते हुए अपना कर्तव्य पालन करके परमात्मा की अनुभूति और परम सिद्धि की प्राप्ति करने के लिए अर्जुन को उपदेश कर रहे हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः

'जनकादि' में प्रयुक्त 'आदि' शब्द के दो भेद किये जाने चाहिए - 'आरम्भ' और 'प्रकार' ।

प्रस्तुत प्रकरण में यदि 'आदि' का अर्थ आरम्भ से लिया जाए तो अर्थ बनता है कि सर्वप्रथम महाराज जनक ने इस योग का आचरण किया, लेकिन ऐसा अर्थ उपयुक्त नहीं है, क्योंकि महाराज जनक से पहले भी सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों ने इस योग का आचरण किया था। अतः यहां 'आदि' शब्द का अर्थ 'प्रकार' से लिया जाना उचित है। इससे अर्थ बनता है कि 'जनक-जैसे' राजाओं ने इस योग का आचरण करके परम सिद्धि की प्राप्ति की थी।

कर्मणैव हि संसिद्धिम्

सम्बद्ध श्लोक के इस चरण में 'कर्मणैव' अर्थात् कर्म करते हुए, कर्म से ही जनक आदि राजाओं ने परम सिद्धि की प्राप्ति की - ऐसा अर्थावगमन होता है लेकिन इस अर्थबोध से दोष बनता है क्योंकि 'महाभारत' के शान्तिपर्व में कहा गया है - 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' (२४१-७) अर्थात् कर्म से जीव बंधता है । अतः इस 'कर्मणैव' - शब्द की सूक्ष्मता में जाएं, तो इस शब्द का सम्बन्ध पिछले श्लोक - 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार । असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। [३/१९] से है, अर्थात् कर्मफल में आसक्त हुए बिना मनुष्य को अपना कर्तव्य समझ कर निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि अनासक्त होकर

कर्म करने से, यानि निरन्तर विकास [आत्मविकास] परब्रह्म (परम) की प्राप्ति होती है । कहा जा सकता है कि यहां पर 'कर्मणैव' के स्थान पर 'योगेनैव' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता था लेकिन अर्जुन अपने कर्तव्यकर्म का त्याग कर रहा है और प्रस्तुत प्रसंग आसक्ति रहित होकर कर्म करने का है, इसलिए श्रीकृष्ण से 'कर्मणैव' शब्द का ही प्रयोग बादरायण व्यासजी ने करवाया है ।

भारतीय ज्ञान परम्परा में निरन्तर विकास का विशेष-अर्थबोध

हम सब जिस प्रकार सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार परमात्मा की अनुभूति करने के उपाय करते हैं। सोचते हैं कि जिस प्रकार हमने मेहनत करके धन की प्राप्ति की उसी प्रकार हम अपनी मेहनत, अपने कर्मों, अपने प्रयासों से परमात्मा की भी अनुभूति कर लेंगे। यदि किसी राष्ट्र के राष्ट्रपति से मिलना हो तो कितनी कठिनाई आती है? कितने दिनों बाद भेंट हो पाती है? कितने दिनों बाद नंबर लगता है? लेकिन भेंट हो जाती है, इसमें कोई संदेह नही। इसीप्रकार हम परमात्मा को भी अपने प्रयत्नों, व्रत, उपवास, जप, तप आदि से पा लेंगे, उनसे मिलने में कुछ समय ज्यादा लगेगा लेकिन ऐसा नहीं है।

मनुष्य योनि का कर्मों से गहरा सम्बन्ध है, इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने चौदहवें अध्याय में कहा -'रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते । (१४-१५)

[अर्थात् कर्मों में मनुष्य की आसक्ति जन्म से ही होती है। इसी कारण से वह सभी पदार्थों की प्राप्ति कर्मों के द्वारा करना चाहता है। प्रारब्ध के सहयोग से हमें बहुत सी वस्तुएं कर्म से प्राप्त भी हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप हमारी यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि कर्म करने से ही सब कुछ प्राप्त होता है। इसीलिए हम जड़ कर्मों के द्वारा चेतन परमात्मा की प्राप्ति करना चाहते हैं। परंतु परमात्मा की प्राप्ति जड़ कर्मों से नही होती, कर्मों से तो नाशवान् जड़ पदार्थों की ही प्राप्ति संभव हो सकती है, वह भी तब जब कि प्रारब्ध का भी सहयोग हो, अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति कर्मों से नही होती। प्रत्येक कर्म का आरम्भ और अंत होता है अतः उससे प्राप्ति भी नाशवान पदार्थों की ही हो सकती है। दूसरी बात कर्मों से उन पदार्थों की प्राप्ति होती है जो हमसे दूर होते हैं,किन्तु परमात्मा तो हमसे अभिन्न हैं, हमारे अत्यंत निकट हैं, हमें नित्य-निरंतर प्राप्त हैं -

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।। (१३-१५)

अतः परमात्मा की प्राप्ति करनी नहीं है, वह तो स्वतः नित्यप्राप्त है, उन्हें कर्मों से थोड़े ही प्राप्त करना है, उनकी प्राप्ति तो चिंतन से होती है और वह चिंतन भी सांसारिक चिंतन को ही मिटाता है, जिसके मिटते ही स्वयं नित्यप्राप्त परमात्मा का अनुभव हो जाता है।

सांसारिक पदार्थ इच्छामात्र से प्राप्त नहीं होते पर परमात्मा इच्छामात्र से प्राप्त होता है। लेकिन हमारी ऐसी इच्छा तब तक नही होगी जब तक हम सांसारिक प्राप्तियों को महत्व देते रहेंगे। इसके अतिरिक्त परमात्मा की प्राप्ति में कोई बाधा है ही नही।

लोकसंग्रह का विशष्ट अर्थबोध

'लोक' शब्द के तीन अर्थ होते हैं - तीनों लोक, उन लोकों में रहने बाले प्राणी और शास्त्र (वेदों को छोड़कर) कारण कि वेद परमात्मा का स्वरूप अक्षरब्रह्म है।

इसप्रकार लोकसंग्रह का अर्थ होता है - समस्त लोकों की, उनमें रहनेबाले प्राणियों की और शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार हमारी जीवनचर्या होना ही लोकसंग्रह है। लोक मर्यादा सुरक्षित रखने के लिए लोगों को असत् से विमुख करके सत् के सम्मुख करने के लिए निःस्वार्थ भावपूर्वक कर्म करने को ही भगवान् श्रीकृष्ण ने यज्ञार्थ कर्म कहा।

यहां पर यह ध्यातव्य है कि लोगों को दिखाने के लिए दम्भपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करना, लोकसंग्रह नही है। कोई देखें या न देखें अपने-अपने वर्ण, आश्रम आदि के अनुसार कर्तव्यकर्म का पालन करने से लोकसंग्रह स्वतः ही होता है। कर्तव्यकर्म का पालन करते हुए कोई कर्म छोटा अथवा बड़ा नही होता, व्याख्यान देना और नाली साफ करना दोनों कर्म एक समान ही हैं। यद्यपि फल की दृष्टि से ये कर्म छोटे-बड़े दिखाई पड़ते हैं लेकिन कर्मयोगी की दृष्टि फल पर होती ही नहीं है, अतः दोनों ही कार्य एक समान होते हैं। इस विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय ज्ञान परम्परा में निरन्तर विकास की प्रक्रिया के लिए 'लोकसंग्रह' का यह समावेशी सिद्धान्त अद्भुत और वरेण्य है जो 'भूमा वै सुखम्', 'चरैवेति चरैवेति' और 'चरन्वै मधु विन्दति'- जैसे सनातन सूत्रों का सहज बोध करवाके हमारी ज्ञान-परम्परा को गतियुक्त और ऊर्जावान् बनाता है ।

किसी भी ज्ञान-विचारधारा को बौद्धिक गरिमा के कारण अपनाने वाले बुद्धिजीवी लोग बहुत कम होते हैं, इसलिए प्रत्येक विचारधारा को समाज में प्रसारित-प्रचारित करने के लिए कुछ विशेषतायें लानी पड़ती हैं। उन विशेषताओं के बिना लोकसंग्रह का कार्य अत्यंत कठिन है। किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करने में उसके हृदय, बुद्धि और आत्मा को अपनी

ओर खींचना पड़ता है और इसके लिए निश्चित-प्रकार की विभिन्न साधनायें हैं । इस शोधपत्र के विस्तार-भय से उन साधनाओं का उल्लेख सम्भव नहीं है |

उपसंहार

भारतीय ज्ञान-परम्परा का सबसे बड़ा गुण यह रहा है कि उसमें अपने आपको कायम रखने की अद्भुत शक्ति, अनादि काल से विद्यमान रही है। संसार के अनेक प्राचीन देशों का नाम लिया जा सकता है, जैसे मिस्र, यूनान, चीन, इटली आदि; किन्तु इन देशों का आमूल परिवर्तन हो चुका है। मिस्र की पिरामिड युगीन सांस्कृतिक-परम्परा का वर्तमान मिस्र में नामोंनिशान भी नहीं है। इसी प्रकार अन्य देशों की स्थिति भी है। किन्तु भारत की स्थिति इनसे सर्वथा भिन्न है।

भारतीय धर्म और समाज की परम्परागत चली आने वाली विशिष्ट बातें हजारों वर्षों से अपने उसी रूप में विद्यमान हैं, जिस प्रकार हजारों वर्ष पहले कुम्भ स्नान हुआ करता था, वह आज भी उसी रूप में चल रहा है। चारों धाम की तीर्थयात्रा के महत्व में भी कोई कमी नहीं आयी है। यहाँ तक कि अनेक सामाजिक क्रिया-कलाप भी ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं। ये ईषत्-संकेत 'लोकसंग्रह' के समावेशी सिद्धान्त को समझने के लिए संकेतमात्र है |

****

- डॉ.बलदेवानन्द-सागरः

अणुप्रैषः - baldevanand.sagar@gmail.com